

# सुर्य

## चाहें तो यों पायें

— श्रीराम शर्मा आचार्य

# खुरव चाहें तो यों पाएँ

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री सपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं० - २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य : ७.०० रुपये

---

---

आशा और उत्साह कहीं से लाने अथवा आने वाली वस्तुएँ  
नहीं हैं । यह दोनों तेज आपके अंतःकरण में सदैव ही विद्यमान  
रहते हैं । हाँ, आवश्यकता के समय उनको जगाना तथा  
पुकारना आवश्यक पड़ता है । जीवन की कठिनाइयों तथा  
आपत्तियों से घबरा कर अपने इन अंतरंग मित्रों को भूल जाना  
अथवा इनका साथ छोड़ देना बहुत बड़ी भूल है । ऐसा करने का  
अर्थ है कि आप अपने दुर्दिनों को स्थाई बनाते हैं, अपनी  
कठिनाइयों को पुष्ट तथा व्यापक बनाते हैं । किसी भी अंधकार  
में, किसी भी प्रतिकूलता अथवा कठिनाई में अपने आशा,  
उत्साह के समन्वय को कभी मत छोड़िएगा । कठिनाइयाँ  
आपका कुछ नहीं कर सकेंगी ।

---

---

# सुख चाहें तो यों पाएँ

## सुख चाहिए, किंतु दुःख से डरिए मत

जीवन में दुःख, शोक और संघर्षों का आना स्वाभाविक है, इससे कोई भी जीवधारी नहीं बच सकता। सुख-दुख मानव जीवन के दो समान पहलू हैं, सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आते ही रहते हैं। यदि कोई इतना साधन-संपन्न भी हो कि उसके जीवन में किसी दुःख, किसी अभाव अथवा किसी संघर्ष की संभावना को अवसर ही न मिले और वह निरंतर अनुकूल परिस्थितियों में मौज करता रहे, तब भी एक दिन उसका एक रस, सुख ही दुःख का कारण बन जाएगा। वह अपनी एकरसता से ऊब उठेगा, थक जाएगा, उसे एक अप्रिय नीरसता घेर लेगी, जिससे उसका मन विषाद से भर कर कराह उठेगा, वह दुखी रहने लगेगा। मानव जीवन में दुःख-सुख के आगमन के अपने नियम को प्रकृति किसी भी अवस्था में अपवाद नहीं बना सकती। जो सुखी है, उसे दुःख की कटुता अनुभव करनी ही होगी और इस समय जो दुःखी है उसे किसी न किसी कारण से सुख, शीतलता का अनुभव करने का अवसर मिलेगा ही।

दुःख-सुख है क्या? यह किसी भी मनुष्य के लिए परिस्थितियों का परिवर्तन मात्र ही है और यदि ठीक दृष्टिकोण से देखा जाए, तो परिस्थितियाँ भी दुःख-सुख का वास्तविक हेतु नहीं हैं। वास्तविक हेतु तो मनुष्य की मनःस्थिति है जो किसी परिस्थिति विशेष में सुख-दुःख का आरोपण कर लिया करती है। बहुत बार देखा जा सकता

है कि किसी समय कोई एक परिस्थिति मनुष्य को पुलकित कर देती है, हर्ष विभोर बना देती है, तो किसी समय वही अथवा उसी प्रकार की परिस्थिति पीड़ादायक बन जाती है। यदि सुख-दुःख का निवास किसी परिस्थिति विशेष में रहा होता, तो तदनुकूल मनुष्य को हर बार सुखी या दुःखी ही होना चाहिए। एक जैसी परिस्थिति में यह सुख-दुःख की अनुभूति का परिवर्तन क्यों? वह इसलिए कि सुख-दुःख वास्तव में परिस्थितिजन्य न होकर मनोजन्य ही होते हैं।

इस सत्य के अनुसार मनुष्य को सुखी अथवा दुःखी होने का कारण अपने अंतःकरण में ही खोजना चाहिए। जो परिस्थितियों को कोसता अथवा सुख के लिए धन्यवाद दिया करता है, वह अपनी अल्पज्ञता को ही प्रकट करता है। यह सर्वदा सत्य है कि कोई भी मनुष्य दुःख की कामना तो करता नहीं, वह तो सदा सुख ही चाहा करता है, इसलिए उसे अपनी यह चाह पूरी करने के लिए परिस्थितियों से अधिक मन पर ध्यान देने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे ईर्ष्या, द्वेष, चिंता, क्षोभ अथवा असंतोष से अभिभूत न होने देना चाहिए। इस प्रकार का निरभिभूत मानस गौमुखी गंगाजल की तरह निर्मल एवं प्रसन्न होता है, मन प्रसन्न है, तो संसार में सभी ओर प्रसन्नता दृष्टिगोचर होगी, सुख ही सुख अनुभव होगा, तब ऐसी सहज प्रसन्नता की दशा में परिस्थितियों के अनुकूल होने की अपेक्षा नहीं रहती। परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, मनभावनी हैं, बहुत अच्छा। परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं तब भी कोई अंतर नहीं पड़ता। प्रसन्न मन मानव उन्हें अनुकूल करने के लिए प्रयत्न करेगा, संघर्ष करेगा, पसीना बहाएगा, मूल्य चुकाएगा, कष्ट उठाएगा किंतु दुःखी नहीं होगा। वह यह सब हँसते-हँसते प्रसन्न मनोमुद्रा में ही करता रहेगा। उसे परिश्रम में आनंद आएगा, संघर्ष में सुख मिलेगा, असफलता पर हँसी आएगी और सफलता का स्वागत करेगा। जीवन की विविध

परिस्थितियाँ तथा विविध उपलब्धियाँ उसकी प्रसन्नता को बढ़ा ही सकती हैं, घटा नहीं सकतीं ।

एक मात्र सुख की आकांक्षा रखने वाले और दुःख-क्लेशों से भयभीत होने वाले न केवल स्वार्थी ही होते हैं, अपितु कायर भी होते हैं । कायरता तो मनुष्य जीवन का कलंक है, जो संघर्षों-मुसीबतों तथा आपत्तियों से डरता है । उनके आने पर निराश अथवा निरुत्साहित हो जाता है, वह और कोई बड़ा काम कर सकना तो दूर साधारण मनुष्यों की तरह साधारण जीवनयापन भी नहीं कर सकता । संसार में न तो आज तक कोई ऐसा मनुष्य हुआ है और न आगे ही होगा जिसके जीवन में सदा प्रसन्नता की परिस्थितियाँ ही बनी रहें, उसे दुःख-क्लेश में तस झोंके न सहन करने पड़े हों । राजा से लेकर रंक तक और बलवान् से लेकर निर्बल तक प्रत्येक प्राणी को अपनी-अपनी स्थिति में, अपनी तरह के दुःख-क्लेश उठाने ही पड़ते हैं । कभी शारीरिक कष्ट, कभी आध्यात्मिक अंधकार मनुष्य को सताते ही रहते हैं । सदा सर्वदा कोई भी व्यक्ति कष्ट एवं कठिनाइयों से सर्वदा मुक्त नहीं रह सकता, तब ऐसी अनिवार्य अवस्था में किसी प्रकार की कठिनाई आ जाने पर निराश, चिंतित अथवा क्षुब्ध हो उठना इस बात का प्रमाण है कि हम संसार के शाश्वत नियमों से सामंजस्य स्थापित नहीं करना चाहते, हम असामान्यता के प्रति हठी अथवा दुराग्रही बने रहना चाहते हैं ।

सुख-सुविधा की कामना बेशक की जाए और उसके लिए अथक प्रयत्न भी, पर साथ ही कठिनाइयों का स्वागत करने के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए । अनुकूलता पाकर हर्षोन्मत्त हो उठना और प्रतिकूलता देखते ही रो उठना मानसिक हीनता का लक्षण है । मनोहीन मनुष्य संसार में कुछ भी करने लायक नहीं होता, वह जीता जरूर है, लेकिन मृतकों से भी बुरी जिंदगी । जिसका हृदय विषाद से

आक्रांत है, चिंताओं से अभिभूत है, उसका जीना जीने में नहीं गिना जा सकता। जिंदगी वास्तव में वही है, जिसमें जीने के साथ कुछ ऊँचा और अच्छा करते रहने का उत्साह सक्रिय होता रहे। यह उत्साहपूर्ण सक्रियता केवल उसी में संभव है, जो हर समय कठिनाइयों से लड़ने का साहस रखता है, आपत्तियों से संघर्ष करने की हिम्मत वाला है। जो व्यग्र है, त्रस्त है और निराश है, वह न केवल संसार पर ही, बल्कि अपने पर भी बोझ बना हुआ श्वाँसों का भार ढोया करता है। चिंतित तथा निराश मनस्थिति वाला व्यक्ति किसी पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहता, जिसकी जड़ में दीमक लग चुकी है अथवा जिसका मूल किसी कीड़े ने काट डाला है, उस लता से, उस वृक्ष से सुन्दर फल-फूलों की आशा नहीं की जा सकती।

सुख, सुविधा की कामना अवश्य करिए, यह उपयुक्त है, किंतु साथ ही कठिनाइयों से लौहा लेने के लिए भी सदैव तत्पर रहिए। कठिनाइयाँ स्वयं कष्ट लेकर नहीं आतीं, वे केवल आती हैं आपकी मानसिक प्रसन्नता, आपकी आशा तथा आपके उत्साह पर आवरण डालने। यदि आपने उनको अपनी इन आत्म-किरणों पर परदा डाल देने दिया, तो आपके मनो-मंदिर में अंधकार ही अंधकार हो जाएगा और तब तमोजन्य, निराशा, क्षोभ, भय तथा असंतोष की अशिव भावनाएँ आपको तरह-तूरह से पस्त करने लगेंगी और आप अकारण ही पीड़ित रहने लगेंगे।

आशा और उत्साह मनुष्य जीवन के संबल हैं। मनुष्य की प्रसन्नता के यह दोनों प्रामाणिक आधार हैं। जो बुद्धिमान् किसी भी दिशा से इनको मंद नहीं होने देते, अभाव, दुःख, कष्ट तथा प्रतिकूलताएँ उन पर वैसे ही प्रभाव नहीं डाल पातीं, जैसे कवच सज्जित शरीर पर शत्रु के बाण। कष्ट आएगा, कठिनाई खड़ी हो जाएगी, तो आशा उनका सत्य स्वरूप समझने और उनके हल के

लिए मार्ग दिखलाएगी, उत्साह आगे बढ़ाएगा । बढ़ते हुए व्यक्ति का मार्ग कोई भी अवरोध रोक नहीं सकता । दुःख-क्लेश होता उन्हीं को है, जो किसी कारण से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एक जगह ठिठके रहते हैं । जो ठिठक कर रुकना नहीं जानता वह कठिनाइयों को परास्त कर आगे निकल ही जाता है ।

आशा और उत्साह की शक्ति अपरिमित है, उसका परिमाण लगाया ही नहीं जाता । प्राण संकट में पड़े हुए न जाने कितने वीर व्यक्तियों ने केवल आशा और उत्साह के बल पर इतिहास प्रसिद्ध विजयों का वरण किया है । आशा और उत्साह के अभाव में एक नगण्य से कारण से परास्त होकर न जाने कितने व्यक्ति आत्महत्या कर लिया करते हैं, जबकि उनका वह दुःख, वह क्लेश अथवा अभाव-प्राण तो दूर, एक रोम के बलिदान योग्य भी नहीं होता । आशा और उत्साह का अभाव तिनके जैसी कठिनाई को पहाड़ जैसे बना दिया करता है । निराशा अंधकार है और निरुत्साह व्याधि । अँधेरे में एक छोटी-सी आशंका प्राणलेवा बन जाया करती है और व्याधिग्रस्त व्यक्ति एकदम आगे बढ़ने का साहस नहीं करता ।

दिनों, महीनों और वर्षों के संचित विषाद को आशा की एक छोटी-सी किरण क्षणभर में दूर करके जीवन में उल्कास तथा उत्साह का संचार कर देती है । मरण शैल्य पर पड़ा रोगी औषधि की अपेक्षा आशा के सहारे रोग या मृत्यु पर अधिक विजय पाता है । जीवन से क्षुब्धि, परेशानियों से परेशान होकर आत्महत्या को उद्धत यदि किसी व्यक्ति को किसी संयोग से आशा की किरण मिल जाती है, तो वह तुरंत अशुभ विचार छोड़कर जीवन पथ पर हँसता हुआ बढ़ चलता है । तिल-तिल भूमि पर बलिदान देता हुआ कोई भी योद्धा विजय की आशा से ही युद्धभूमि में बढ़ता है ।

अनेक बार अनुभव किया जा सकता है कि कभी-कभी जीवन में

ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिनसे जीवन का हर क्षेत्र निराशा, कठिनाइयों तथा आपत्तियों से भरा दिखाई पड़ता है। हर समय यही अनुभव होता है कि अब जीवन में कोई सार नहीं रहा है, उसके अस्तित्व को हर प्रकार से खतरा पैदा हो गया है, किंतु किसी भी माध्यम से आशा का एक प्रकाश-कण दीख जाने से परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है और वही निराश व्यक्ति एक बार फिर कमर कसकर जीवन संग्राम में योद्धा की तरह उत्तर पड़ता है व निश्चय ही विजय प्राप्त करता है। हानि के धक्के अथवा असफलता के क्षोभ से जब भी किसी व्यक्ति के मरने अथवा निराश-निकम्मे ही बैठने का समाचार सुनें, तो समझ लें कि उसने अपनी भौतिक हानि के साथ ही अपनी आशा की भी लग्न कर ली है, अपने उत्साह का पला छोड़ दिया है।

आशा और उत्साह कहीं से लाने अथवा आने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। यह दोनों तेज आपके अंतःकरण में सदैव ही विद्यमान रहते हैं। हाँ, आवश्यकता के समय उनको जगाना तथा पुकारना आवश्यक पड़ता है। जीवन की कठिनाइयों तथा आपत्तियों से घबरा कर अपने इन अंतर्रंग मित्रों को भूल जाना अथवा इनका साथ छोड़ देना बहुत बड़ी भूल है। ऐसा करने का अर्थ है कि आप अपने दुर्दिनों को स्थाई बनाते हैं, अपनी कठिनाइयों को पुष्ट तथा व्यापक बनाते हैं। किसी भी अंधकार में, किसी भी प्रतिकूलता अथवा कठिनाई में अपने आशा, उत्साह के समन्वय को कभी मत छोड़िएगा। कठिनाइयाँ आपका कुछ नहीं कर सकेंगी।

सुख की कामना करिए किंतु दुःख से डरिए नहीं। आशा और उत्साह के बल पर उन्हें जीत कर सुख के रूप में बदल डालिए। चिर प्रसन्न आशान्वित तथा उत्साहित रहिए। आपको सुख की याचना करने की आवश्यकता न होगी, वह स्वयं ही दरबान की तरह आपके जीवन की ड्यौढ़ी पर खड़ा आपका स्वागत करता हुआ मिलेगा।

## सुरव और दुःख दृष्टिकोण मात्रे हैं

सब कुछ साधन संपत्ति और सुखी होने पर भी एक नहीं असंख्यों व्यक्ति संसार में चिंतित, उद्विग्न दिखाई देते हैं। यदि और भी अधिक गहराई से देखा जाए, तो जो जितना साधन संपत्ति और सुविधाओं में भरा-पूरा है वह उतना ही चिंतित और विकल दिखाई देगा। इसके विपरीत कम साधनों और अभाव वाले व्यक्ति मस्त-मनमौजी दिखाई देंगे।

जो साधन संपत्ति है, सुविधाओं से भरापूरा है, उसके अधिक चिंतित रहने का कारण यह रहता है कि वह व्यक्ति अपनी संपत्तता के अभिमान में संसार के सारे सुख अपने लिए चाहता रहता है। वह हर समय प्रसन्न रहने और हँसी-खुशी पाने के लिए लालायित रहा करता है। बहुत कुछ संपत्तता के बावजूद भी जब वह अप्रिय परिस्थिति के बीच पहुँचता है, तो उसका रोम-रोम दुःखी हो उठता है। वह सोचने लगता है कि इतना सब कुछ संपत्ति होने पर भी वह जो दुःखी है, वह उसके भाग्य का दोष है। उसका सारा ध्यान पूर्वजन्म के पापों का काल्पनिक चिंतन करने में लग जाता है, इससे उसका पूरा जीवन दुःखों की क्रीड़ास्थली बन जाता है।

दूसरा व्यक्ति अभावग्रस्त होने पर भी बहुत कुछ निश्चिंत एवं प्रसन्न दीखता है। न उसे अभाव सताता है और न संपत्तता की कामना ही क्लेश दे पाती है। वह जो कुछ पाता है खा लेता, जो कुछ पाता पहन लेता और जहाँ स्थान मिलता सो रहता है। भोजन, वस्त्र और निवास की घोर समस्या होने पर भी उसके प्रसन्न रहने का एक कारण उसका संतोष है। इसके विपरीत अनेक व्यक्ति अभाव और

विपन्नता का रोना रोते ही देखे जाते हैं । उन्हें भोजन, वस्त्र, निवास आदि की समस्याएँ सदा घुलाया करती हैं ।

एक-सी परिस्थितियों के दो व्यक्तियों में से एक को दुःखी और एक को प्रसन्न देखकर यही समझ में आता है कि मात्र परिस्थितियाँ ही दुःख-सुख का कारण नहीं हैं । यह मनुष्य का अपना दृष्टिकोण तथा मनोभूमि का स्तर है, जो उन्हें दुःखी किया करता है ।

जिस व्यक्ति को किसी बात के अंधेरे पक्ष को ही देखने का अभ्यास हो गया है, वह अच्छी बात में भी दुःख, चिंता का कारण निकाल लेता है और उसको लेकर सोच-सोचकर दुःखी हुआ करता है । दृष्टिकोण के कारण ही किसी वस्तु में दुःख का दर्शन होता है । संयोग के समय जो चंद्रमा मनोहर दीखता है, वही वियोग के समय कष्टदायक बन जाता है । यदि वास्तव में सुख या दुःख का जन्म चंद्रमा से ही होता, तो क्या संयोगनी और क्या विरहिणी वह दोनों को एक समान ही दुःखदायक क्यों न होता ?

संपत्ति के लिए रोने और चिंतित होने वाले व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि अधिक संपत्ति उपार्जन के लिए मनुष्य को उचित एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करना पड़ता है, जिससे उसकी बुद्धि कलुषित और आत्मा पतित होती है, साथ ही धन-संपत्ति पा जाने पर उसकी रक्षा और बढ़ाने की इच्छा चिंता बनकर साथ लग जाती है । तब ऐसी दशा में सुख कहाँ ? अभाव के प्रति यदि इस प्रकार सोच लिया जाए कि यह ईश्वर की एक कृपापूर्ण प्रसन्नता है, तो इस प्रकार वह संपत्ति एवं धन-दौलत के कारण उत्पन्न होने वाले झंझटों से बच जाता है । संपत्ति को बढ़ाने, उसकी रक्षा करने आदि की चिंता उनके पास नहीं फटकती, वह निश्चिंत एवं निर्द्वद्व जीवन व्यतीत करता है । संपत्ति एवं संपन्नताजन्य दोषों से वह सहज ही बचा रहता है, जिससे

उसके पास दुःखी अथवा व्यग्र रहने का कोई कारण नहीं रह जाता । संपन्नता अथवा विपन्नता मनुष्य के सुख-दुःख का हेतु नहीं होती, हेतु है उसका दृष्टिकोण, सोचने का ढंग और मानसिक स्तर ।

जीवन में निश्चिंत एवं निर्द्वंद्व रहने के लिए मनुष्य को सुख साधन जुटाने से पूर्व अपनी मनोभूमि को स्वच्छ एवं समुन्नत बनाना चाहिए । इसके बिना वह किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट नहीं रह सकता, हर समय उसे दुःखद भावनाएँ ही घेरे रहेंगी ।

मनुष्य का यह हठ कि वह जिस प्रकार की अवस्थाएँ एवं परिस्थितियाँ अपने लिए चाहता है, उसके विपरीत स्थिति उसके सामने न आए उसके दुःखों का एक विशेष कारण है । संसार का निर्माण किसी एक व्यक्ति के लिए तो हुआ नहीं, जिससे वह उसकी इच्छा के अनुसार गतिशील रहे । केवल वे ही परिस्थितियाँ सामने आएँ जिन्हें वह चाहता है । संसार का निर्माण तो जीव मात्र के लिए हुआ है, सभी प्राणी समान रूप से सुख के अधिकारी हैं । आज की जो परिस्थिति हमारे लिए सुखदायक है, किसी अन्य के लिए दुःखदायक हो सकती है । ऐसी अवस्था में उसका बदलना अनिवार्य है, क्योंकि जब तक वह बदलेगी नहीं, दुःखी रहने वाला व्यक्ति सुखी न हो सकेगा । हो सकता है कि जिस परिस्थिति में हमें दुःख का अनुभव होता है वह किसी दूसरे के लिए सुख देने वाली हो, ऐसी दशा में उसका आना बहुत आवश्यक है । सुख-दुःख का क्रमिक आवागमन संसार का शाश्वत विधान है, ऐसी दशा में केवल अपनी मनोनुकूल परिस्थितियों का आग्रह न केवल स्वार्थ अपितु ईश्वरीय विधान के प्रति अस्वीकृत है, जो एक प्रकार से नास्तिकता है, ईश्वर द्वाह भयंकर पाप है ।

सुख-दुःख के प्रति यदि मनुष्य का अपना दृष्टिकोण सम हो जाए तो उसके लिए चिंता, शोक, व्यग्रता तथा विकलता के सारे ही

कारण समाप्त हो जाएँ । अपने प्रति सुखद परिस्थितियाँ पाकर जहाँ कोई प्रसन्न होता है, वहाँ प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे और कुछ नहीं, तो इसी विचार से प्रसन्न होना चाहिए कि जो परिस्थितियाँ मेरे लिए दुःख का हेतु बनी हुई हैं, उनमें कहीं न कहीं हमारा कोई दूसरा मानव बंधु सुख का अनुभव प्राप्त कर रहा है ।

निःसंदेह वह मनुष्य बहुत ही दयनीय है जो सुख में तो प्रसन्न, और अप्रिय परिस्थिति में आँसू बहाता है । वह प्रकृति के इस छोटे-से विधान को नहीं समझ पाता, कि जब उसे प्रसन्नता प्राप्त हुई है, उससे पहले वह प्रतिकूल परिस्थिति से परेशान था । दुःख के कारण दूर हुए और उसे सुख प्राप्त हुआ । आज जब वह दुःखद परिस्थितियों में है, तो क्यों रोता है ? दुःख के पीछे सुख और सुख के पीछे दुःख संसार का अविचल नियम है, न तो यह कभी बदला है और न बदला जा सकता है । तब फिर इस द्वन्द्वात्मक स्थिति को स्वीकार ही क्यों न किया जाए ? बड़ी से बड़ी आपत्ति और भयानक से भयानक दुःख आने पर मनुष्य उससे अभिभूत रहता हुआ भी किसी न किसी समय क्षणभर को उसे भूल ही जाता है और एक शांतिपूर्ण स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है । तब क्या कारण है कि शांति के क्षणिक समय को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता ?

वास्तविक बात तो यह है कि न तो दुःख हमें हर समय पकड़े रहता है और न उसमें ऐसी कोई शक्ति होती है कि हमारे अनचाहे वह हमें अप्रसन्न अथवा विवादग्रस्त बनाए रहे । यदि ऐसा होता तो हर बार आए हुए दुःख से मनुष्य कभी न छूट पाता । आठों याम जीवनभर वह एक ही दुःखद स्थिति में तड़पता रहता, किंतु ऐसा कभी होता नहीं । दुःखद परिस्थितियाँ आती हैं, मनुष्य परेशान होता है और फिर एक-दो दिन में वह स्थिति समाप्त हो जाती है । इसका ठीक अर्थ यही है कि दुःख-सुख का अपना कोई अस्तित्व

अथवा प्रभाव नहीं है, उनकी वेदना हमारी स्वीकृति—अस्वीकृति पर निर्भर करती है। जिन परिस्थितियों को हम दुःखद स्वीकृत कर लेते हैं वे हमें दुःख और जिन परिस्थितियों को हम सुखद स्वीकार कर लेते हैं, वे हमें सुख देती हैं।

मनुष्य की यह स्वीकृति—अस्वीकृति एक मात्र उसके दृष्टिकोण तथा मानसिक स्तर पर निर्भर करती है। यदि हमारा मानसिक स्तर गिरा हुआ है, हम में मनुष्योचित भीरुता, गंभीरता और सहिष्णुता की कमी है, तो अवश्य ही हम जरा—जरा सी प्रतिकूलताओं में दुःखी होकर रोते—कलपते रहेंगे। इनके विपरीत यदि अंदर से गंभीर, आत्मा से ऊँचे हैं, तो कोई भी परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं कर सकती। हम सुख—दुःखमय इस नियमित वाटिका को उत्साहपूर्वक देखते हुए जीवनयापन करते रहेंगे। ऐसी स्थिति में तो हमें क्या दुःख और क्या सुख, कोई भी विक्षुब्ध न बना पाएँगे।

## दुःख प्रकृति का पुण्य परीक्षण

विशाल नदी के प्रतिकूल दिशा में चलने पर अथाह जल-राशि का विरोध सहन करना पड़ता है, उसकी लहरों के थपेड़े खाने पड़ते हैं, दम फूल जाता है, हाथ-पैरों की जान निकल जाती है और फिर बाध्य होकर अनुकूल दिशा में बहना पड़ता है। इसी तरह एक नियम-विधान से प्रेरित लंबे समय से गतिशील विश्व-ख्रावाह की प्रतिकूल दिशा में चलकर भी मनुष्य को कष्ट-दुःख, परेशानियों, विपत्तियों का सामना करना पड़ता है और अंत में उसे प्रवाह के रुख में ही बहने को बाध्य होना पड़ता है।

संसार की प्रत्येक घटना, क्रिया-कलाओं का संचालन एक नियम, विधान के अनुसार ही होता है, जिसे प्राकृतिक, ईश्वरीय विधान कुछ भी कहें। इस विधान की प्रेरणा से सृष्टि का जर्जर-जर्जर गतिशील है, इस विधान के अनुकूल चलने पर ही सुख, सुविधा, सहयोग, प्रगति, विकास निश्चित है। इतना ही नहीं उस दिशा में मनुष्य प्रयत्न करके विशेष गति और स्थिति प्राप्त कर सकता है, किंतु प्रतिकूल दिशा में चलकर तो संघर्ष, अशांति, कष्ट, दुःख, पराजय के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। इससे उल्टी अपनी शक्तियाँ व्यर्थ ही नष्ट होती हैं और मनुष्य प्रगति की ओर चलकर अवनति के गर्त में गिरता जाता है, पिछड़ जाता है। शास्त्रकारों ने इसी को दैवी विधान के अनुकूल आचरण करना, पुण्य और इससे प्रतिकूल चलना पाप कहा है। इसी तथ्य को कसौटी पर परीक्षण करने वाले जीवन विद्या विशारदों ने, महापुरुषों ने कहा है कि 'बुराई का परिणाम सदैव बुरा ही होता है। दुष्कर्म, कुचिंतन दुर्भावनाओं का परिणाम सदैव दुःखदायी होता है, क्योंकि ये सब विश्व-विधान के विरोधी अनैतिक तत्व हैं।'

विवेकहीनता और अज्ञान से प्रेरित मनुष्य जब विश्व प्रवाह, प्रकृति की विकास यात्रा के अनुकूल नहीं चलता, तो प्रकृति उसे एक न एक दिन ठोक-पीटकर उस ओर चलने के लिए बाध्य कर ही देती है। जब मनुष्य बाह्य आकर्षणों में अपने लक्ष्य पथ को भूल जाता है, तो उसे प्रकृति के थपेड़े खाने ही पड़ते हैं। यह निश्चित तथ्य है कि स्वार्थ, क्षणिक सुखोपभोग, समृद्धि आदि अस्थाई-क्षणभंगुर हैं। फलतः इनका पर्यावरण अनंत दुःख में ही होता है। इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति कई मानसिक और शारीरिक रोगों के शिकार हो जाते हैं। स्वार्थी, लोभी, लालची लोग हृदय रोग के शिकार रक्तदोष आदि से पीड़ित हो जाते हैं, साथ ही बाह्य जीवन की परिस्थितियों का गठन इस तरह हो जाता है, जिसमें विश्व-नियम के विरुद्ध चलने वाले को बार-बार ठोकरें लगती हैं, कष्टों से गुजरना पड़ता है, जन्मत का, समाज का विरोध और तिरस्कार सहन करना पड़ता है। मनुष्य की समृद्धि-शक्ति उसका वैभव-ऐश्वर्य, सुख-साधन उसे इन आंतरिक एवं बाह्य पीड़ा-झटकों से नहीं बचा सकते और बार-बार इस तरह की होने वाली शारीरिक-मानसिक पीड़ा की अनुभूति, दुःख-द्वंद्वों की प्रतिक्रिया कालांतर में मनुष्य की बुद्धि को स्थाई सुख नित्यानंद का मार्ग घोजने, उसके बारे में विचार-चिंतन करने के लिए बाध्य कर ही देती है और तब मनुष्य विश्व-नियम, देवी-विधान को समझने, सोचने और उसे जीवन में उतारने की दिशा में प्रयत्न करने लगता है। दुःख-द्वंद्वों की यह मार कष्टानुभूति की यह प्रतिक्रिया तब तक शांत नहीं होती, जब तक मनुष्य अपने जीवन के सही तथ्य को पाकर उस पर आचरण करना प्रारंभ न कर दे। इस तरह विचारपूर्वक देखा जाए तो दुःख-पीड़ा, कष्टानुभूति कोई दंड नहीं है, अपितु प्रकृति की, ईश्वरीय विधान की एक सुधारक प्रक्रिया है।

मनुष्य के अनेक मानसिक दोषों का मूल जिम्मेदार उसका अहंकार होता है। नीतिकारों ने अभिमान को समस्त पापों का मूल बताया है। अभिमान की छत्रछाया में ही अनेक मानसिक दोष पनपते हैं, बढ़ते हैं और फैलकर मनुष्य के आंतरिक जीवन को अस्त-व्यस्त, असंतुलित कर देते हैं और इसी की छाया स्वरूप जीवन के बाह्य पर्दे पर भी उल्टे काम, उल्टा व्यवहार हीन लगता है, किंतु प्रकृति भी अभिमान को जड़ से खत्म किए बिना नहीं छोड़ती। देखा जाता है कि गिरे हुए उठते हैं और ऊपर चढ़े हुए गिरते हैं।

वैज्ञानिक अन्वेषणों से यह मालूम हुआ है कि हिमालय पहाड़ किसी समय समुद्र में डूबा हुआ था। ऊपर चोटियों पर प्राप्त मछलियों, जलचरों के अवशेषों से यह सिद्ध भी हो गया है। इसी तरह हिंद महासागर में एक पूरे का पूरा महाद्वीप ही डूबा हुआ है। स्थूल जीवन, बाह्य संसार परिवर्तनशील है, अभिमान का आधार भौतिक विशेषताओं में ही होता है। अतः एक न एक दिन भौतिक समृद्धि, संपत्रता, शक्ति आदि पर खड़ा अभिमान का महल स्वतः ही धराशायी हो जाता है। आज जो गिरे हुए हैं, कल उठेंगे, जो आज अपने को ऊपर उठे हुए जान रहे हैं उनका एक दिन गिरना निश्चित ही है। इस तरह उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन दोनों तरह की परिस्थितियों में महत्व रखने की शिक्षा प्रकृति देती रहती है। प्रकृति के इस रहस्य को समझने वाला व्यक्ति कभी अभिमान के मादक खुमार में मदहोश नहीं हो सकता।

शरीर के अंदर के विकारों का दमन करने के लिए प्रकृति शरीर में जो प्रतिक्रिया पैदा करती है, उसके फलस्वरूप कई रोग फोड़े, फुंसी, चेचक, बुखार, दस्त, उल्टी, दर्द आदि उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः यह सब शरीर के विजातीय द्रव्यों को निकाल बाहर करने के प्रवाह मात्र हैं। किसी तरह का अत्यधिक कष्ट होने पर प्रकृति माता

चेतना को ही शांत कर देती है, ताकि मनुष्य असह्य वेदना से पीड़ित न हो। किसी तरह का जबरदस्त शारीरिक-मानसिक आघात लगने पर मनुष्य बेहोश-अचेत हो जाता है। लोग इन सबको रोग अभिशाप आदि समझते हैं, परमात्मा को कोसते हैं, किंतु हम यह नहीं समझते कि यह सब प्रकृति माता का कितना बड़ा उपकार है हम लोगों पर, अन्यथा कष्टदायक वेदना और दोषों के भंडार दूषित शरीर की क्या स्थिति होती? इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

प्रकृति बहुत हद तक शरीर के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। मनुष्य जब उसमें कोई सहयोग नहीं करता और दूषित आचरण करके नियमों का उल्लंघन करता जाता है, तो वह जीर्ण-शीर्ण शरीर को छीन लेती है और आत्मा को नया-नया शरीर प्राप्त करने के लिए फिर से स्वतंत्र कर देती है। जिसे हम मृत्यु कहते हैं क्या वह प्रकृति माता का अमूल्य वरदान नहीं है, जिसमें हम जीर्ण-शीर्ण, असमर्थ-अयोग्य शरीर को त्याग कर नए शरीर की प्राप्ति के हकदार बन जाते हैं।

शारीरिक विचारों की तरह ही मानसिक विचार, चिंता, कुद्रन, कुविचार आदि का भी प्रकृति अपने ढंग से निवारण करती है। मनुष्य जिस बात से चिंतित अथवा भयभीत होने लगता है। उसके जीवन में उसी तरह की परिस्थितियाँ अधिक आती हैं और उन परिस्थितियों में बार-बार रहकर मनुष्य उनका ऐसा अभ्यासी हो जाता है, जिससे पूर्वभय और चिंता नहीं रहते। इसी तरह स्वप्नों के माध्यम से भी मनुष्य के मानसिक भावों को रेचक हो जाता है। जैसे स्वप्न देखे जाते हैं, वैसे भावों का रेचक भी हो जाता है। काम-विकारजन्य दूषित भाव स्वप्न में व्यक्त होकर क्षीण हो जाते हैं। स्वप्न में भूत को बार-बार देखने वाले भूत के भय से मुक्त हो जाते हैं। हिंसक पशुओं के संपर्क में आने पर तद्जन्य भय का निवारण हो

जाता है। गंदे स्वप्न देखने पर गंदे भावों का रेचक हो जाता है। स्वप्न में अपनी मृत्यु का दृश्य देखने वाले मृत्यु की चिंता से मुक्त हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म निरीक्षण करके देखा जाए, तो मालूम होगा कि मनुष्य जिस विषय के स्वप्न देखता है वह उठने पर उस विषय में अपने को हल्का-स्वस्थ महसूस करता है। प्रकृति माता मनुष्य की मानसिक गुणिताओं को विभिन्न अनुभूतियों के माध्यम से सुलझाती रहती है, चाहे यह कार्यक्रम दृश्य हो अथवा अदृश्य, बाह्य जगत में हो अथवा स्वप्न जगत में।

बाह्य जीवन की परिस्थितियों, बीमारियों, विषमताओं का स्वरूप ही प्रकृति की एक सुधारात्मक प्रक्रिया है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस तरह की सुधारात्मक, दोष निवारक परिस्थितियाँ, वातावरण, परिणाम समयानुसार अवश्य ही मिलते हैं। अहंकारी, शक्तिशाली, गर्व में चूर दुर्योधन जब अपनी अनीतियों से बाज नहीं आया, तो उसे अपनी आँखों से अपना सर्वस्व नष्ट होते देखना पड़ा और बड़ी असहाय अवस्था में शरीर छोड़ना पड़ा। महाबली रावण का दर्प, अहंकार उस समय नष्ट हो गया, जब उसका सारा वैभव नष्ट हो गया और वह असहाय घायल अवस्था में रणभूमि में पड़ा था। जिसने बड़े-बड़े देवों पर विजय पाकर उन्हें बंदी बनाकर छोड़ा था, उसे दो क्षत्रिय पुत्रों ने कुल सहित नष्ट कर दिया। विश्व विजयी सिंकंदर महान् अपनी अपार संपत्ति के होते हुए भी छटपटाता हुआ मरा और उसे कोई न बचा सका। उसका दर्प, अहंकार मिट्टी में मिल गया। दुनियाँ की खुली पुस्तक में दैवी विधान की इस सुधार प्रक्रिया का पाठ पढ़ा जा सकता है।

दुनियाँ से छिपकर अपने दुराचरण पाप, अन्याय, अनीति का खेल खेलने वाले समाज और राज्य की आँख में धूल झोंक सकते हैं। अदालतों में झूँठे प्रमाणों से अनुकूल न्याय प्राप्त कर सकते हैं,

चमक दमकपूर्ण कीमती पोशाक और समृद्धि की चकाचौंध से अपने असली स्वरूप को छिपा सकते हैं, दूसरों को चालाकी से अपना बड़प्पन जता सकते हैं, किंतु विश्व विधायक की नजर से वे नहीं बच सकते । वहाँ उनका तर्क-प्रमाण, बुद्धि चातुर्य सब धरा ही रह जाता है । छल-बल, दंभ, समृद्धि आदि कोई भी उसे नहीं बचा पाते ।

दुराचारी अपनी बाह्य सफलताओं के झूँठे अभिमान से स्वयं ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लेता है कि जिसमें कष्टों, मुसीबतों, दुःखों का सामना करना पड़ता है । उसका मनोबल नष्ट पायः हो जाता है, जिससे जीवन के विभिन्न पहलुओं में उसे पराजय का सामना करना पड़ता है । गुब्बारे की तरह फूला हुआ अभिमान तनिक-सी कष्टकारक, अपमानजनक परिस्थितियों की ठेस लगते ही फट जाता है और तब उसे अपनी असलियत का पता चलता है । स्वेच्छाचार, दर्प, अभिमान नष्ट होते ही मनुष्य अपने को सामान्य श्रेणी में अनुभव करता है । यह सब ठीक उसी तरह नियमबद्ध होता है, जैसे ऋतुओं का आना, दिन-रात का होना आदि ।

छिपे-छिपे पाप करने वाले कष्टसाध्य मानसिक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं । उनके आसपास का वातावरण इस तरह का बन जाता है जिससे उन्हें दुःखदायी यंत्रणाएँ सहन करनी पड़ती हैं । ऐसे लोग शांति से नहीं रह पाते, चैन से खा नहीं सकते, न सुख की नींद सो सकते हैं । इस तरह अंतर्बाह्य सर्वत्र दुःख, क्लेश, अशांति, पीड़ादायी यंत्रणाएँ मनुष्य को वास्तविक सुख और सत्य की खोज के लिए बाध्य कर देती है । जब मनुष्य देवी विधान के अनुसार मिली ताड़ना, दंड, कष्टों से भी नहीं सुधरता तो प्रकृति उसे चैन से जीने भी नहीं देती और एक दिन जीने का अधिकार भी उससे छीन ही लेती है ।

संसार का नियति विधान, नियति द्वारा संचालित और प्रेरित है । संसार का प्रत्येक कण, उसकी गतिशीलता, स्थिति, संवर्धन सब उसी नियम के अंतर्गत चलते हैं और यह विश्व नियम सर्वदा एक-सा, अचल और सार्वभौम है । इसके प्रवाह की अनुकूल दिशा में बहकर मनुष्य विकास, गति की ओर अग्रसर हो सकता है । विशेष प्रयत्न करने पर वह विशेष स्थिति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे नदी के प्रवाह में पड़ जाने पर मनुष्य उलटता-पुलटता बहता चला जाता है । यदि वह हाथ-पैर हिलाए तो अपनी विशेष स्थिति बना भी सकता है ।

संक्षेप में विश्व नियम पुरोगमी रचनात्मक, सृजनात्मक, सत्य, प्रेम, न्याय पर आधारित हैं । संसार में फैली विकृतियाँ, विपरीतता, अन्याय आदि मनुष्य द्वारा पैदा किए गए हैं और इसी कारण मनुष्य सर्वाधिक दुःखी-परेशान भी है । आवश्यकता इस बात की है कि शाश्वत नियम, सिद्धांतों, आदर्शों का अवलंबन लेकर जीवन को पुरोगमी बनाया जाए तो मानव जीवन अनंत आनंद-सुख का उद्गम बन जाएगा । उसके विपरीत विश्व नियम की प्रतिकूल दिशा में चलना प्रकृति का कोपभाजन बनना है । इससे जीवन में दुःख, कष्ट, परेशानी, रोग, शोक, भय, ताप यंत्रणाओं का सामना करना पड़ता है, जो वस्तुतः प्रकृति की एक सुधार प्रक्रिया ही है ।

## तटरथ्य रहिए, दुःखवी मत होइए

‘संसार दुःख सागर है’—ऐसी मान्यता रखने वाले प्रायः वे ही लोग हुआ करते हैं, जो अपनी दुर्बलताओं के कारण संसार में सुख के दर्शन नहीं कर पाते । उनकी यह मान्यता ही बतलाती है कि वे कितने दुःखी रहने वाले व्यक्ति होंगे ? ऐसे व्यक्तियों के लिए संसार की प्रत्येक क्रिया—प्रतिक्रिया, प्रत्येक परिस्थिति तथा घटना दुःखदायी ही होती है और होनी भी चाहिए । जिसका विश्वास बन चुका है कि संसार दुःख—सागर है, उसे इस दुनियाँ में सिवाय दुःख के और क्या हाथ आ सकता है ? ऐसी निराशापूर्ण भावना बना लेने वाला जीवन भर रोने, झींकने, चिढ़ने और कुढ़ने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है ? दूसरे को हँसते—खेलते, खाते—पीते, बोलते, बात करते और प्रसन्न रहते देखकर ईर्ष्या करता और मन ही मन जलता रहता है । ऐसे व्यक्ति को औरों का हँसना—बोलना ही नहीं दूसरों का रोना भी उसे अच्छा नहीं लगता । किसी का हँसना, प्रसन्न होना तो ईर्ष्या के कारण नहीं भाता और खुद के दुःख से उत्तेजित होने के कारण किसी के रोने—धोने को भी बुरा मानता है । निःसंदेह ऐसे दुःख—प्रवण व्यक्तियों का जीवन एक भयंकर अभिशाप ही बन जाता है ।

दुःखों के कारणों में दुर्भावनाएँ भी बहुत बड़ा कारण हैं । दुर्भावनाएँ एक भयंकर रोग की तरह हैं, जिसको लग जाती हैं, जिसके हृदय में बस जाती हैं, उसे कहीं का नहीं रखती हैं । दुर्भावनाएँ वाले व्यक्ति का जीवन प्रति क्षण दुःखी रहता है ।

दुर्भावनाओं में अधिकतर दूसरों का अहित करने का ही भाव निहित रहता है । दुर्भावनाओं वाला व्यक्ति किसी का थोड़ा भी अभ्युदय नहीं देख सकता । किसी के अभ्युदय से अपनी कोई हानि न होने पर भी ऐसा व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि अमुक व्यक्ति की

उन्नति न हो, विकास न हो, उसे कोई सफलता न मिले, किंतु जो प्रयासशील है, प्रयत्न कर रहा है, उसकी उन्नति तो होती है । ऐसी दशा में रोड़े अटकाने, कोसने अथवा चाहने पर भी जब किसी की उन्नति नहीं रोक पाता, तो दुर्भावी व्यक्ति के लिए जलने, कुद़ने तथा दुःखी होने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह जाता । इस प्रकार दुर्भावना रखने वाला व्यक्ति दुहरा दुःख पाता है, एक तो किसी का अहित चाहने पर उसकी असफलता तथा आत्म-प्रताड़ना दंडित करती है, दूसरे जिसका उसने अहित चाहा उसकी उन्नति उसे दिन-रात चैन न लेने देगी ।

दुर्भावनापूर्ण व्यक्ति अपने निजी सुख के लिए ऐसे काम भी करने की कामना कर सकता है, जो शासन तथा समाज की दृष्टि में अवांछनीय हो । दुर्भावनाएँ प्रायः होती ही समाज विरोधी हैं, ऐसी दशा में जब वह दंड के भय से उन्हें नहीं कर पाता तो मन ही मन दुःखी होता रहता है और उसके पाले हुए अविचारों के अतृप्त प्रेत उसे प्रति क्षण पीड़ा देते रहते हैं । व्यभिचारी का अपना कोई मित्र नहीं होता । सारा मानव समाज ऐसे व्यक्ति से घृणा करता है और ऐसी दशा में किसी का दुःखी न होना किस प्रकार संभव हो सकता है ।

इसके विपरीत जो व्यक्ति सद्भावनापूर्ण है, जिसके हृदय में दूसरों के लिए हितकर भाव है, जो सबको अपना समझता है, सबके हित में अपना हित मानता है, वह डाह तथा ईर्ष्या-द्वेष से सर्वथा मुक्त रहता है । जिसका हृदय स्वच्छ है, निर्मल है उसके हृदय में मलीनताजन्य कीटाणु उत्पन्न ही न होंगे । निर्विकार हृदय वाले व्यक्ति को न ईर्ष्या के सर्प डसते हैं और न डाह के बिच्छू डंक मारते हैं । वह सदा सुखी तथा प्रसन्न रहता है ।

सबके प्रति सद्भावना रखने वाला बदले में सद्भावना ही पाता है, जो उसे सब प्रकार से शीतल और शांत रखता है । सबके हित में

अपना हित देखने वाला प्रत्येक के अभ्युदय से प्रसन्न ही होता है । दूसरों की उन्नति में सहायता करता है और बदले में सहयोग पाकर सुखी व संतुष्ट रहता है । दुर्भावना तथा सद्भावना रखने वाले व्यक्तियों की स्थिति में वही अंतर रहता है, जो विष के मरणासन्न और अमृत से परिवृत् तथा प्रसन्न व्यक्ति में ।

सुख की अत्यधिक चाह भी दुःख का एक कारण है । हर समय, हर क्षण तथा हर परिस्थिति में सुख के लिए लालायित रहना एक निकृष्ट, हीन भावना है । इस क्षण-क्षण परिवर्तनशील तथा द्वंद्वात्मक संसार में हर समय सुख कहाँ ? जो संभव नहीं उसकी कामना करना असंगति ही नहीं अबुद्धिमत्ता भी है । दुःख उठाकर ही सुख पाया जा सकता है, साथ ही दुःख के अत्यंत अभाव में सुख का कोई मूल्य-महत्व भी नहीं है । विश्रांति के बाद ही विश्राम का मूल्य है । भूख-प्यास से विकल होने पर ही भोजन का स्वाद है ।

जिस प्रकार आवश्यकता को आविष्कार की जननी कहा जाता है, उसी प्रकार दुःख को सुख का जनक मान लिया जाए, तो अनुचित न होगा । जिसके सम्मुख दुःख आते हैं, वही तो सुख के लिए प्रयत्न करता है । जिसने गरीबी से टक्कर ली है, वही अर्थाभाव दूर करने के लिए अग्रसर होगा । दुःख तकलीफ ही पुरुषार्थी व्यक्ति को क्रियाशीलता पर आधारित रखती है, उस पर पानी चढ़ाती है अन्यथा मनुष्य निकम्मा-निर्जीव होकर एक मृतकतुल्य बनकर ही रह जाए ।

सुख में अत्यधिक प्रसन्न होना, हर्षित होना भी दुःख का एक विशेष कारण है । यह साधारण नियम है कि जो अनुकूल परिस्थितियों में खुशी से पागल हो उठेगा, उसी अनुपात से प्रतिकूल परिस्थितियों में दुःखी होगा । सुख प्रसन्नता का कारण होता है किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आप उसमें इतना प्रसन्न हो जाएँ कि

आपकी अनुभूतियाँ सुख की ही गुलाम बनकर रह जाएँ । वे प्रसन्नतापरक परिस्थितियों की अभ्यस्त हो जाए । ऐसा होने से आपकी सहनशक्ति समाप्त हो जाएगी और जरा-सा भी कारण उपस्थित होते ही आप अत्यधिक दुःखी होने लगेंगे । अस्तु, दुःख से बचने का एक उपाय यह भी है कि सुख की दशा में भी बहुत प्रसन्न न हुआ जाए । संतुलन पूर्ण तटस्थ अवस्था का अभ्यास इस दिशा में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा । तटस्थ भाव सिद्ध करने के लिए दुःख से नहीं सुख से अभ्यास करना होगा । जब-जब मनोनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हों, सुख का अवसर मिले, तब-तब साधारण मनोभाव से उसका स्वागत कीजिए, हर्षातिरेक में न आइए । इस प्रकार प्रसन्नतापूर्ण वातावरण में किया हुआ अभ्यास अधिक सफल होता है । प्रसन्नावस्था में जो कार्य किया अथवा सीखा जाता है, वह जल्दी सीखा जा सकता है ।

हर्ष के समय जो अपना संतुलन बनाए रखता है, विषाद के अवसर पर भी वह सुरक्षित रहता है । दुःख-सुख में समान रूप से तटस्थ रहना इसलिए भी आवश्यक है कि अतिरेक के समय किसी बात का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता । हर्ष के समय गलत बात भी ठीक लगने लगती है और विषाद के समय ठीक बात भी गलत लगती है । इस प्रकार बुद्धि-भ्रम हो जाने से दुःख के कारणों की कोई कमी नहीं रहती । हर्ष के समय जब हमें किसी की कोई बात अथवा काम गलत होने पर भी ठीक लगेगी, तो फिर भ्रमवश किसी समय भी वैसा कर सकते हैं और जब हमें क्षोभ भी होगा, जिससे दुःखी होना स्वाभाविक है ।

किसी मनुष्य की भावुकता जब अपनी सीमा पार कर जाती है तो वह भी दुःख का एक विशेष कारण बन जाती है, वह अत्यधिक भावुक, तुनुकमिजाज हो जाता है । एक बार वह सुख में भले ही

प्रसन्न न हो, किंतु मन के प्रतीकूल परिस्थितियों में वह अत्यधिक दुःखी हुआ करता है, अत्यधिक भावुक कल्पनाशील भी हुआ करता है। वह इसके एक छोटे आघात को पहाड़ जैसा अनुभव करता है। एक क्षण के दुःख के लिए घंटों दुःखी रहता है। जिन बहुत-सी घटनाओं को लोग महत्वहीन समझकर दूसरे दिन ही भूल जाया करते हैं, भावुक व्यक्ति उनको अपने जीवन का एक अंग बना लेता है, स्वभाव का एक व्यसन बना लेता है।

भावुक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संवेदनशील होता है। यहाँ तक कि एक बार दुःखी व्यक्ति तो अपना दुःख भूल सकता है, किंतु भावुक व्यक्ति उसके दुःख को अपनाकर महीनों दुःखी होता रहता है। आवश्यक भावुकता तथा संवेदनशीलता ठीक है, किंतु इसका सीमा से आगे बढ़ जाना दुःख का कारण बन जाता है।

### प्रसन्नता की उपलब्धि सद्विचार से

जीवन में बालक से लेकर बूढ़े तक सभी प्रसन्नता चाहते हैं और उसे पाने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसा करना भी चाहिए, क्योंकि स्थाई प्रसन्नता जीवन का चरमलक्ष्य भी है। यदि मनुष्य जीवन में प्रसन्नता का नितांत अभाव हो जाए, तो उसका कुछ समय चल सकना भी असंभव समझना चाहिए।

यह बात सत्य है कि मानव-जीवन में दुःख-क्लेश का अनुपात ही अधिक देखने में आता है, तब भी लोग शौक से जी रहे हैं। इसका कारण यही है कि बीच-बीच में उन्हें प्रसन्नता भी होती रहती है और उसके लिए उन्हें नित्य नई आशा भी बँधी रहती है। प्रसन्नता जीवन के लिए संजीवनी तत्व है, मनुष्य को उसे प्राप्त करना चाहिए। प्रसन्नता में ही मनुष्य अपना तथा समाज का कुछ भला कर सकता है, विरूष्णावस्था में नहीं।

प्रसन्नता वांछनीय भी है और लोग उसे पाने के लिए निरंतर प्रयत्न भी करते रहते हैं, किंतु फिर भी कोई उसे अपेक्षित अर्थ में पाता दिखाई नहीं देता। क्या धनवान्, क्या बालक और वृद्ध किसी से भी पूछ देखिए कि क्या आप जीवन में पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न हैं? उत्तर अधिकतर नकारात्मक ही मिलेगा। उसका पूरक दूसरा प्रश्न भी कर देखिए, तो क्या आप उसके लिए प्रयत्न नहीं करते? नब्बे प्रतिशत से अधिक का उत्तर यही मिलेगा कि प्रयत्न तो बहुत करते हैं, पर प्रसन्नता मिल ही नहीं पाती। निःसंदेह मनुष्य की यह असफलता आश्चर्य ही नहीं दुःख का विषय है।

कितने खेद का विषय है कि आदमी किसी एक विषय अथवा वस्तु के लिए प्रयत्न करे और उसको प्राप्त न कर सके। ऐसा भी नहीं कि कोई उसे प्राप्त करने में कम श्रम करता हो अथवा प्रयत्नों में कोताही रखता हो। मनुष्य प्रतिक्षण एक मात्र संपूर्ण प्रसन्नता प्राप्त करने में ही तत्पर एवं व्यस्त रहता है। वह सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते जो कुछ भी अच्छा-बुरा करता है, सब प्रसन्नता प्राप्त करने के मंतव्य से, किंतु खेद है कि वह उसे उचित रूप से प्राप्त नहीं कर पाता।

इस स्थिति को देखते हुए तो यही समझ में आता है कि या तो मनुष्य प्रसन्नता के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता अथवा वह अपनी वांछित वस्तु को पाने के लिए जिस दिशा में प्रयत्न करता है, वह ही गलत है। इस समस्या पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

लोगों में अधिकतर एक सामान्य धारणा यह रहा करती है कि यदि उसके पास अधिक पैसा हो, साधन सुविधाएँ हों, तो वे प्रसन्न रह सकते हैं। ऐसी धारणाओं वाले लोग पैसे और साधन-सुविधाओं के लिए रोते-रिरियाते रहने की बजाय एक बार दृष्टि उठाकर अन्य

लोगों की ओर क्यों नहीं देखते कि प्रचुरता से परिपूर्ण होने पर भी क्या वे सुखी हैं, प्रसन्न और संतुष्ट हैं ? यदि धन-दौलत तथा साधन-सुविधाएँ ही प्रसन्नता के हेतु होतीं, तो संसार का हर धनवान् अधिक से अधिक सुखी और संतुष्ट होता, किंतु ऐसा कहाँ ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैभव और विभूति वास्तविक प्रसन्नता का कारण नहीं हैं । प्रसन्नता प्राप्ति का हेतु मानकर इन भौतिक विभूतियों के लिए रोते-मरते रहना बुद्धिमानी नहीं है ।

बल, बुद्धि और विद्या को भी प्रसन्नता का हेतु मानने की एक सभ्य प्रथा है, किंतु यह ऐश्वर्य भी वास्तविक प्रसन्नता का वाहन नहीं हैं । यदि ऐसा होता, तो हर शिक्षित प्रसन्न दिखाई देता और हर अशिक्षित अप्रसन्न, ऐसा भी देखने में नहीं आता । जिस प्रकार अनेक धनवान् अप्रसन्न और निर्धन प्रसन्न देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार अनेक विद्वान् क्षुब्ध तथा बेपढ़े-लिखे लोग प्रसन्न मिल सकते हैं । बड़े-बड़े बलवान् आहें भरते और साधारण सामर्थ्य वाले व्यक्ति हँसी-खुशी से जीवन बिताते मिल सकते हैं ।

इस प्रकार विचार करने से पता चलता है कि वास्तविक प्रसन्नता कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसको किसी शक्ति अथवा साधन के बल पर प्राप्त किया जा सके । साधनों की झोली फैलाकर प्रसन्नता की तलाश में दौड़ने वाले भी प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकते और वास्तविक बात तो यह है कि जो जितना अधिक प्रसन्नता के पीछे दौड़ते हैं, वे उतने ही अधिक निराश होते हैं । उनका यह निरर्थक श्रम उस अबोध हिरण की तरह ही सोचनीय होता है, जो पानी के भ्रम में मरु-मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं अथवा उस बालक की तरह कौतुकपूर्ण है, जो आगे पड़ी हुई अपनी छाया को पकड़ने के लिए दौड़ता है । प्रसन्नता कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसका पीछा करने की जरूरत है, वह तो अवसर आने पर स्वयं ही आकर

मनोमंदिर में हँसने लगती है। उसके आने का अवसर तो वही होता है, जब हम उसे पाने के लिए लालायित, व्यग्र और चिंतित होते हैं।

प्रसन्नता प्राप्ति का मुख्य रहस्य यह है कि मनुष्य अपने लिए सुख की कामना छोड़कर अपना जीवन दूसरों की प्रसन्नता में ही नियोजित करे। दूसरों को प्रसन्न करने के प्रयत्न करने में जो भी प्राप्त होता है, वह भी प्रसन्नता ही देता है। छोटा-मोटा कष्ट तो दूर, देश भक्त तथा अनेकों परोपकारियों ने अपने प्राण देने पर भी अनिर्वचनीय प्रसन्नता प्राप्त की है। इतिहास ऐसे बलिदानों से भरा पड़ा है कि जिस समय उनको मृत्युवेदी पर प्राण-हरण के लिए लाया गया, उस समय उनके मुख पर जो आळाद, जो तेज, जो मुस्कान और जो प्रसन्नता देखी गई वह काल के अनंत पृष्ठ पर स्वर्णक्षर में अंकित हो गई।

एक साधारण से साधारण व्यक्ति भी अपने जीवन की किसी न किसी ऐसी घटना का स्मरण करके समझ सकता है कि जब उसने कोई परोपकार का कार्य किया था, तब इसके हृदय में प्रसन्नता की कितनी गहरी अनुभूति हुई थी। जिस किसी दिन यह सोचने के बजाय, कि आज अपने लिए अधिक से अधिक प्रसन्नता संचय करेंगे यदि यह सोचकर दिन का काम आरंभ किया जाए कि आज हम दूसरों को अधिक से अधिक प्रसन्न करने का प्रयत्न करेंगे, तो वह दिन आपके लिए बहुत अधिक प्रसन्नता का दिन होगा।

साधारण मनोरंजन, कार्यों तथा व्यवहारों में इस रहस्य को आए दिन देखा जा सकता है कि जो काम दूसरों को प्रसन्न करने वाले होते हैं अथवा जिन कामों से हम दूसरों को प्रसन्न कर पाते हैं, वे ही काम हमें अधिक से अधिक प्रसन्न किया करते हैं। एक खिलाड़ी गेंद खेलता है और विपक्ष पर एक गोल कर देता है, तो उसे अपनी

सफलता पर प्रसन्नता होती है, किंतु तभी जब उसके साथी भी प्रसन्न होते हैं। यदि किसी कारण से उसकी यह सफलता दर्शकों अथवा साथियों को प्रसन्न न कर पाए, तो उसे स्वयं भी प्रसन्नता न होगी। एक शिल्पी भवन अथवा मंदिर बनाता है, यद्यपि वह उसका नहीं होता तथापि वह इसलिए प्रसन्न होता है कि उसका वह काम दूसरों को प्रसन्न कर सकता। इसी प्रकार कोई चित्रकार, कलाकार अथवा कवि कोई रचना करता है, तो उसे प्रसन्नता होती है, उसे अपनी कृति अच्छी लगती है, किंतु उसकी प्रसन्नता में वास्तविकता तभी आती है, जब दूसरे भी प्रसन्न होते हैं। संयोगवश यदि उसका सृजन अन्य किसी की प्रसन्नता का संपादन न कर सके, तो अपनी होते हुए भी कला से कोई रुचि न रहेगी, वह उसे बेकार समझेगा और उसकी प्रसन्नता जाती रहेगी।

वास्तविक प्रसन्नता का मूल रहस्य दूसरों की प्रसन्नता में निहित है। जो परोपकारी व्यक्ति दूसरों के सुख के लिए जीते हैं, उनके कार्य औरों की सेवा रूप होते हैं। वे अपने जीवन में साधन शून्य रहने पर भी प्रसन्न, संतुष्ट एवं सुखी रहते हैं, जिसको जीवन में वास्तविक प्रसन्नता की जिज्ञासा हो वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाए नित्य निरंतर दूसरों का हित साधन करे, जिससे वह अपनी वांछित वस्तु, प्रसन्नता को नित्य-निरंतर पाता रहे।

## रिवन्न नहीं, प्रसन्न रहा कीजिए

खिन्नता एक मानसिक संताप है, जो मनुष्य को हर समय जलाया करती है। खिन्नता के कारण न कुछ अच्छा लगता है, न कोई काम करने को जी करता है। बात करने में अरुचि होती है, किसी के पास बैठने को जी नहीं चाहता, हर समय मन में एक संभार बना रहता है एवं रोष-क्षोभ और तनाव बना रहता है, जिससे सारा जीवन जड़ बनकर निष्ठाण-सा बन जाता है।

खिन्न व्यक्ति का कहीं चित्त नहीं लगता, घर में बाल-बच्चों का कोलाहल अखरता है, बाहर दुनियाँ काटने को दौड़ती है। शून्य एकांत में श्मशान जैसी भयानकता अनुभव होती है। पढ़ने में जी नहीं लगता, धूमने-फिरने में थकान आती है।

खिन्नमना व्यक्ति क्षण-क्षण में घर से बाहर जाता है, बाहर से घर आता है। एक काम को छोड़कर दूसरा काम करना चाहता है, किंतु उसका मन नहीं लगता। उसे न कहीं विश्राम मिलता है और न चैन। सुख-शांति तो उसके लिए आकाश कुसुम हो जाती है। यदि उसका मन लगता है तो केवल एक बात में कि दुनियाँ से लुकछिप कर कहीं बैठ जाए और अपनी मानसिक जलन में तिल-तिल जलकर जीवन की आहुति देता रहे। न उसे कोई काम करना पડ़े और न संसार का कोई व्यवहार निभाना पड़े।

खिन्नमना व्यक्ति जब कोई काम करता है, तो ऐसी बेगार टालता है कि काम बनने के बजाय बिगड़ जाता है। जब किसी से बात करता है, तब मानो या सो रोता है या लड़ता है। दूसरे का मधुर कथन कटु लगता है और स्वयं की मधुर बात को भी कड़वा करके व्यक्त करता है। खिन्नता, कटुता एवं अरुचि की जननी है।

ऐसे व्यक्ति का संपूर्ण जीवन ही नीरस और तिक्त बन जाता है। उसकी हर बात और हर काम या तो निर्जीव जैसा होगा अथवा विक्षिप्तों जैसा। वह मानसिक विक्षेप के वशीभूत होकर किसी काम के योग्य नहीं रहता, यह है खिन्नमना मनुष्य की दशा।

संसार में खिन्नता के एक नहीं हजार कारण हो सकते हैं। कोई नुकसान हो सकता है, कोई कुछ कह सकता है, स्वाभिमान को ठेस लग सकती है, कोई परिजन बीमार हो सकता है, पैसे की कमी पड़ सकती है, किसी से वाद-विवाद हो सकता है, निराशा हो सकती है, रोग या रंज हो सकता है। इस अनंत भीड़-भाड़ और विविधताओं से भरी दुनियाँ में पग-पग पर खिन्नता के कारण सामने आ सकते हैं, कोई भी उनसे बच नहीं सकता।

संसार की विषम परिस्थितियाँ सबके लिए एक जैसी हैं। किसी को भी खिन्नता अथवा विषाद घेर सकता है। सभी लोगों को निराशा एवं प्रतिकूलताओं के बीच गुजरना पड़ता है, किंतु संसार के सारे आदमी खिन्न और व्यग्र दिखाई नहीं देते। लोग हँसते-बोलते और उत्साहपूर्वक काम करते हैं। यहाँ उन्हीं खिन्नता के कारणों के बीच में रहते हुए भी अनेक लोग प्रसन्न दिखाई देते हैं। यदि परिस्थिति के प्रभाव से संसार के सभी व्यक्ति खिन्न रहने लगें तो क्या संसार एक पल को भी चल सकता है? प्रत्येक व्यक्ति अपना काम छोड़कर एकांत में बैठ जाए और खिन्नता की जलन का स्वाद लिया करे। व्यग्रता, खिन्नता, निराशा और अप्रियता आदि सब को साथ लेकर चलना ही पड़ता है, संसार के सारे काम करने ही पड़ते हैं। यदि खिन्नता आते ही सब विरक्त एवं वेदनापूर्ण स्थिति ग्रहण कर लें तो दूसरे ही क्षण संसार जड़ होकर जहाँ का तहाँ रुक जाए और नष्ट हो जाए।

संसार कर्मभूमि है, यहाँ सबको कार्य करना ही पड़ता है। बिना

काम किसी का गुजारा ही नहीं हो सकता । आदमी प्रसन्न है, तब भी काम करना होगा और खिन्न है तब भी कार्य से नहीं बच सकता । संसार का सारा विधान ही काम पर निर्भर रहता है । जो जितना कर्मठ है, वह उतना ही आगे बढ़ता है और जो जितना ही काम से जी चुराता है, वह उतना ही असफल रहा करता है । सफलता मिले अथवा असफलता, मनुष्य को काम करना ही पड़ेगा । जब तक श्वाँस चलती है, तब तक काम करना पड़ता है । यदि शारीरिक काम बंद हो जाता है, तो मानसिक क्रिया—कलाप शुरू हो जाता है । क्या सफल और क्या असफल, क्या प्रसन्न और क्या अप्रसन्न काम से कोई नहीं बच सकता, संसार के व्यवहार से विरत नहीं रह सकता ।

कर्मों की सफलता ही जीवन की सफलता है, कर्मों का विस्तार ही अभ्युदय है और इनकी आधारशिला है, मानसिक प्रसन्नता । खिन्न मन रहकर कोई भी कार्य कुशलतापूर्वक नहीं किया जा सकता और जब तक कार्य कुशलतापूर्वक नहीं किया जा सकता और जब तक कार्य कुशलता की सिद्धि नहीं होती, जीवन में सफलता की कोई आशा नहीं की जा सकती । अस्तु, जीवन में सफलता का श्रेय पाने के लिए मानसिक प्रसन्नता को अक्षुण्ण बनाए रखना बहुत आवश्यक है ।

खिन्न व्यक्ति हर समय मन ही मन कुढ़ता, रोता और विषाद करता रहता है । उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है, जीवन में कोई आशा नहीं रहती, चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है ।

संसार में सभी को कभी न कभी खिन्न होना पड़ता है, साथ ही उसे उससे छूटकर फिर अपनी स्थिति में आना पड़ता है । बिना खिन्नता से छूटे किसी का काम नहीं चल सकता, निरंतर खिन्नता की

स्थिति में रहने वाला व्यक्ति एक प्रकार से निर्जीव ही हो जाता है । जिसके जीवन में उल्कास नहीं और उत्साह एवं प्रसन्नता नहीं वह मृत ही माना जाएगा । जीवन का अर्थ है, हँसी-खुशी से जीना और उत्साहपूर्वक काम करना ।

जब खिन्नता से छूटे बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, तो फिर उसे जीवन में एक क्षण को भी क्यों अवसर दिया जाए । मनुष्य के मन में जितनी देर भी खिन्नता का विक्षेप रहता है, उतनी देर वह एक भीषण आग में जलता रहता है, जिससे जीवन का बहुत सा तत्व नष्ट हो जाता है । खिन्नता एक दिन में जितना जीवन तत्व जला देती है, उतना जीवन तत्व एक महीने में भी प्राप्त होना कठिन है । जितना समय खिन्नता में व्यर्थ चला जाता है, उसका उपयोग एक अच्छा काम करने में किया जा सकता है ।

किसी प्रतिकूलता अथवा अप्रियता के अभाव से खिन्न होकर बैठे रहना उससे छूटने का उपाय नहीं है । किसी बीती घटना की याद करना, उसके लिए रोना, कल्पना या चिंता करना ठीक नहीं । भूतकाल की किसी अप्रिय घटना से त्रस्त होकर बैठ जाने और उसके चिंतन में समय खराब करने का अर्थ है कि आप अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए भी अंधकार का प्रबंध कर रहे हैं । जितनी देर आप बैठकर खिन्नता की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सहज करते और पीड़ित होते हैं, उतनी देर यदि प्रसन्न चित्त रहकर काम करें, तो जीवन में अनेक सफल कदम आगे बढ़ सकते हैं ।

जीवन को सुखी-सफल बनाने का एक ही उपाय है कि आप एक क्षण को भी खिन्नता के वशीभूत न हों । अप्रिय परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी प्रसन्न चित्त रहिए । संसार के प्रति अपना दृष्टिकोण इस प्रकार का बनाइए कि आपको प्रतिकूलताओं में भी सफलता और

आगे बढ़ने के चिह्न दिखाई दें । अपना मानसिक स्तर इतना ऊँचा उठाइए कि संसार की छोटी-बड़ी कोई भी प्रतिकूलता आपका मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त न कर सके । प्रतिकूलताओं में भी हँसिए, कठिनाइयों में मुस्कराइए और असफलता में सफलता की संभावना देखिए । विरोध को विरोध के रूप में न लेकर उसे प्रेरणा के रूप में स्वीकार कीजिए । कदुता का उत्तर मधुरता में दीजिए, हानि-लाभ, सुख-दुःख, उत्कर्ष-अपकर्ष में तटस्थ रहिए । इनसे उस सीमा तक प्रभावित न होइए कि आपके लिए विषाद, निराशा, निरुत्साह अथवा व्यग्रता का कारण बन जाए । सामने आई हुई विविधताओं को संसार का सहज घटनाक्रम समझकर निर्विकार भाव से सहन कीजिए और तब देखिए कि बड़े से बड़ा कारण आने पर भी आप खिन्न नहीं होंगे ।

खिन्नता हर तरह के शोक-संतापों की जड़ है, इसको आश्रय देते ही संपूर्ण जीवन दुःखों का भंडार बन जाएगा । खिन्नता कायर मन की अभिव्यक्ति है । वीर वह जो संसार के सारे दुःख-द्वंद्वों को तटस्थ भाव से सहन करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है ।

### **सुरवी जीवन का मूलाधार : सदाचार**

प्राचीन भारतीय साहित्य सदाचारपूर्ण जीवन बिताने की आवश्यकता तथा उपयोगिता के उल्लेखों से भरा पड़ा है । नैतिक व्यवस्था के देवता वरुण की प्रार्थना अत्यंत विनम्र शब्दों में इस उद्देश्य से की जाती है कि वह निष्ठापूर्वक सत्य तथा मांगलिकता से पूर्ण जीवन बिताने में मनुष्य की सहायता कर सके । ऋषि ने बताया है—

दृते दृअङ्गहमा मित्रस्य या चक्षुषा,  
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

—यजु. ३ / १८

‘हे परमेश्वर ! हम संपूर्ण प्राणियों में अपनी ही आत्मा समाई हुई देखें । किसी से द्वेष न करें और जिस प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र का आदर करता है, वैसे ही हम भी सदैव सभी का सत्कार करें ।

सद्जीवन की व्याख्या स्वरूप महाभारत के वन-पर्व में विचार पूर्ण विवरण मिलता है । महाराज युधिष्ठिर से एक यक्ष पूछता है— ‘भगवान् ! दिशा क्या है ?’ इस पर युधिष्ठिर ने बड़ा ही उद्देश्यपूर्ण उत्तर दिया कि ‘जो शुभ है वही दिशा है ।’ अर्थात् मनुष्य जीवन का उद्देश्य ही सदाचार है और सद्जीवन जीते हुए बिना किसी कष्ट साध्य के यह जीवन मुक्ति प्राप्ति कर सकता है । जिसके व्यवहार, क्रिया और संभाषण आदि में मधुरता होती है, उसे इस संसार के सुखोपभोग की भी कमी नहीं रहती ।

सदाचार का अर्थ है—मानव मात्र की भलाई की भावना रखना, सबके हित को अपना हित समझकर तदनुकूल आचरण करना । शास्त्रकार के शब्दों में—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

अर्थात्—इस संसार में सबके प्रति सद्भावना रहे । यह विचार रखना चाहिए कि सभी सुखी हों, सभी आत्म-कल्याण की प्राप्ति करें और किसी को दुःख न हो । यह शुभ कामनाएँ ही सद्जीवन का मूल हैं, इसमें प्राणिमात्र का हित समाया हुआ है ।

सदाचार घाटे का सौदा नहीं । कर्ता की भावना के अनुरूप सदाचारिता का लाभ मिलता अवश्य है । सहयोग, सहानुभूति, स्नेह, आत्मीयता तथा मैत्री की उसे कमी नहीं रहती । जिसके जीवन में

सबके कल्याण की भावनाएँ आई हुई हों। इसके विपरीत जिनके जीवन दुराचारपूर्ण रहे हैं, उन्हें उसका दंड भी अवश्यमेव भोगना पड़ा है। रावण अपने असंख्य पुत्र-पौत्र सहित मारा गया। दुराचारी दुर्योधन की अनेक अक्षौहिणी सेना भी उसे विजय न दिला सकी। अनियंत्रित वासना के शिकार हुए विश्वामित्र को अपनी दीर्घकालीन तपश्चर्या के फल से वंचित होना पड़ा। वाजिश्रवा का प्रमाद उसी की पराजय का कारण बना। वशिष्ठ के पुत्र प्रचेता का क्रोध उन्हें ही खा गया। इतिहास के पन्ने-पन्ने में ऐसे असंख्य उदाहरण मौजूद हैं जिनसे विदित होता है कि पाप और दुराचार मनुष्य की दुर्गति का ही कारण बनता है। उसे जहाँ आत्म-असंतोष बना रहता है, वहाँ दूसरे लोग भी उल्टा होकर प्रतिकार करने के लिए तैयार बने रहते हैं। दुराचार का दुष्परिणाम कर्ता के पास स्वयं ही लौट आता है।

धन मनुष्य को सुखी नहीं रख सकता, क्योंकि वह जहाँ भी रहेगा वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, भय-असंतोष, विषय और वासनाएँ भी जरूर होंगी। इनसे मनुष्य के अंतःकरण में सदैव खिन्नता बनी रहेगी। शारीरिक शक्ति, पद या अन्य कोई भौतिक समृद्धि एक निश्चित सीमा तक ही सुख दे सकती है किंतु सदाचारी की आत्मा तो सदैव ही प्रफुल्ल रहती है, वह निर्भीक और निडर होती है। श्रेष्ठ पुरुष दूसरे पापाचारी प्राणियों के पाप को ग्रहण नहीं करता, उन्हें अपराधी मानकर उनसे बदला भी लेना नहीं चाहता, उसकी रक्षा सदाचार स्वयं ही करता है, क्योंकि सदाचार ही मनुष्य का सच्चा साथी और सत्यरुषों का भूषण होता है।

सदाचारी के लिए औरों को नेकी की राह पर चलाने के लिए प्रवचन या उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। उनकी निष्ठा ही औरों को प्रेरित करती और सन्मार्ग की ओर अग्रसर करती है। आचरण

विहीन व्यक्तियों द्वारा लाखों उपदेशों का भी कोई महत्व नहीं होता । कौत्स के लिए कुबेर से भी युद्ध करने वाले रघुवंशी दिलीप की दान भावना युग-युगांतरों तक अक्षुण्ण रहेगी और उससे अनेक औरों को दान करने की प्रेरणा निरंतर मिलती रहेगी रहेगी । पितृ भक्ति, त्याग और आत्म-संयम का जो उदाहरण भीष्म पितामह ने दिखाया, उससे अनेक दलित आत्माओं को भी प्रकाश मिलता रहेगा । महात्मा गाँधी की देश भक्ति अब अनेक देशवासियों के दिलों में घुसकर काम कर रही है । सदाचार सदैव ही अमिट रहता है और निष्ठा के अनुरूप बहुत काल तक लोगों का आंतरिक और प्रभावशाली मार्गदर्शन करता रहता है ।

सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धियों की प्राप्ति सदाचार से ही संभव है । तप, त्याग, कष्ट, सहिष्णुता, दान, दया, संयम आदि से ही आंतरिक शक्तियों का जागरण होता है, यह सारे सदाचार के ही विभिन्न अंग हैं । संसार के समस्त धर्मों का उद्देश्य मनुष्य को सदाचार की शिक्षा देना है । संपूर्ण आस्तिकता का आधार भी सदाचार ही है । परमात्मा की उपासना भले ही न करें, पर यदि कोई व्यक्ति अन्य प्राणियों के साथ आत्मीयता, दया, करुणा, शुचिता और सच्चरित्रता का व्यवहार करता है, तो वह किसी उपासना से कम फलदायक न होगा । सद्गुणों के द्वारा सुख और ईश्वर की प्राप्ति यह एक अचल दैवी विधान है, इसे कोई मिटा नहीं सकता ।

धार्मिक संगठनों की रचना चरित्र शुद्धि के आधार पर होती है । अमुक प्रकार की आध्यात्मिक योग्यता होने पर ही व्यक्ति उच्च श्रेणी में आ सकता है । कर्तव्य की दृष्टि से संकुचित होने पर व्यक्ति और समाज की व्यवस्था में गड़बड़ी फैलती है, इसलिए धर्म सबको सदाचार और स्थिरता का संदेश देता है । मनुष्य जब अपने स्वार्थ के लिए जाति-पांति, वेष-भूषा, संप्रदाय या बाह्य

क्रियाकाण्ड को महत्व देने लगता है, तब वह अपने लक्ष्य से गिर जाता है। सदाचार का अर्थ है—व्यक्तिगत विकास और श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था। इससे भिन्न और कोई रास्ता नहीं है, जिस पर चलकर मनुष्य पूर्णतया सुखी जीवन का रसास्वादन कर सके। धार्मिक संगठनों का उद्देश्य सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना ही है, इसलिए धर्म को मानव की मूल प्रकृति के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है।

अपना विकास, अपनी प्रगति और केवल अपने लिए ही सुख की आकांक्षा किया जाना स्वार्थवृत्ति है। सबकी भलाई हो यह एक उदात्त भावना है। यह मनुष्य की महानता का प्रतीक है कि उसकी भावनाएँ कितनी ऊर्ध्वगमिनी हैं। अब लोगों की ममत्व अथवा अपनत्व की भावनाएँ बहुत ही संकीर्ण हो गई हैं, इसलिए एक दूसरे के दुःख और सुविधा का अनुभव नहीं कर पाते। अपना काम बने दूसरों का कितना ही अहित क्यों न हो, आत्म प्रवंचना के कारण ही लोगों का आत्म-विकास रुका पड़ा है।

### **प्रयत्न करने पर भी सुख क्यों नहीं मिलता ?**

स्त्री—पुरुष, राजा—रंक, धनी—निर्धन, अशक्त—सशक्त सभी की यह कामना होती है कि उन्हें सुख मिले। सुख का सच्चा स्वरूप और उसकी वैज्ञानिक आवश्यकता पर बहुत थोड़े से व्यक्तियों ने विचार किया होता है, अधिकांश तो शरीर की स्थूल उपभोग सामग्रियों को ही सुख का साधन मानते हैं और इन्हीं के पीछे अंधी दौड़ लगाते हैं। ये साधन और ये सुख इतने निर्बल होते हैं कि उनसे किसी की आंतरिक पिपासा शांत नहीं होती। क्षणिक सुख का जो आभास होता है, वह अंततः अग्नि में धी डालने का ही काम करता है। इससे सुख की प्राप्ति की कामना प्रबल होती है और इसके प्रति राग या आसक्ति बन जाती है।

यह भाव सुख न रहकर दुःख बन जाता है, क्योंकि शारीरिक सुख अधोगमी होते हैं। इससे शक्तियों का पतन होता है और यह अशक्तता ही दुःख का कारण होती है, इसलिए इन्द्रियों की बाह्य लिप्सा को सुख महीं मानते ।

धन-दौलत जिसे सुख का साधन मानते हैं 'वह भी सुख कहाँ दे पाता है ? ऐसा रहा होता तो हेनरी फोर्ड-राकफेलर आदि प्रमुख धनपति महासुखी रहे होते । धन के कारण उत्पन्न होने वाला भय, आलस्य, भोग आदि से मनुष्य का हृदय हर घड़ी काँपता रहता है । धनियों को थोड़ा घाटा लगा कि हार्टफेल हुआ, यह बात बताती है कि धन का साहसी भावनाओं से पूर्णतया संबंध विच्छेद है । अतः भयदायक परिस्थितियों में रहकर विपुल धन संपत्ति का स्वामी होकर भी मनुष्य सुखी रह सकेगा इसमें संदेह ही है ।

एक बात यह भी है कि शरीर की दृष्टि से संपन्न व्यक्ति भी कई बार अहंकार प्रदर्शन और दूसरों पर अपनी धाक जमाने की भावना से कुत्सित और नृशंस कर्म करने लगते हैं । अपराधों के वैज्ञानिक दंड से मनुष्य बचाव कर सकता है किंतु पाप की प्रक्रिया जब मस्तिष्क में विद्रूप उत्पन्न करती है, तो मनुष्य के बाह्य और आंतरिक जीवन में अशांति की आँधी छा जाती है, ऐसे व्यक्तियों का अंत सदैव ही बड़ा निर्मम, निर्दय और भयानक हुआ ।

तब फिर क्या सौन्दर्य को सुख मान लें ? अपने पास भरा-पूरा परिवार है, उससे क्या सुख मिलता है ? बहुत पढ़-लिख लिया है, इससे क्या हम सुखी हैं ? सोचते चले जाइए, एक-एक परिस्थिति पर पूर्णतया विचार कर लीजिए, बाह्य साधन सुख नहीं दे सकते । सौंदर्य का आकर्षण मनुष्य को पतित बना देता है, फिर वह सदैव साथ रहने वाला भी तो नहीं है । परिवार में संख्या तो अधिक है, किंतु बाप-बेटे मैं नहीं बनती । बच्चियों की शादी की समस्या सताती

है। बेटे दुष्ट, दुर्गुणी हों, स्त्रियाँ फूहड़ हों, तो नारकीय यंत्रणाएँ देखने के लिए दूर जाने की आवश्यकता न होगी।

तथाकथित अर्थकारी विद्या भी मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकी। आज शिक्षा का प्रसार हुआ, पर उसी अनुपात में बेकारी भी बढ़ी है। दिखावट, बनावट, फैशनपरस्ती, फिजूलखर्ची आदि बुराइयाँ आज्ञा, अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों में ही दिखाई देती हैं। फलस्वरूप ये अशिक्षितों से भी अधिक दुःखी रहते देखे जाते हैं, ऐसी दशा में शिक्षा को भी सुख का मूल कैसे मान लें।

मनुष्य का निर्माण जिस ढाँचे में हुआ है, वह सच्चाई और ईमानदारी का खाका है। आंतरिक सद्गति जिसे सुख कहते हैं, वह मनुष्य की भावनाओं का परिष्कार मात्र है अन्यथा इस विश्व में न तो कुछ सुख है न दुःख। आत्मा स्वभावतः उदात्त और विशाल है, उसे इस समष्टिगत भावना में ही आनंद आता है। स्वार्थ की संकीर्णता, प्रवृत्ति और बाह्य भोगों, आसक्ति से ही उसकी स्वाभाविक पवित्रता पर लांछन आता है, ऐसी अवस्था में उसका सुखी होना असंभव होता है।

इस संसार में वही परमात्मा विभिन्न रूपों में रूपांतरित होकर अपना प्रकाश फैला रहा है। वह कण-कण में समाया है, वह साथी है, वह नित्य अविनाशी परमात्मा ही सच्चे आनंद का स्रोत है, उसी को जानने की प्रेरणा देते हुए उपनिषद्‌कार ने लिखा है—

**भूर्भुवः स्वस्त्रयी लोका व्यासं भोम्बह्यतेषुहि ।**

**स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेति विचक्षण ॥**

अर्थात्—इस पृथ्वी, आकाश और पाताल में जो सर्वत्र विद्यमान परमात्मा है, वही योग्य है। उसे जाने बिना मनुष्य दुःख, क्लेश और संताप से विमुख नहीं हो सकता।

